Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

लोकतंत्र के स्तरोन्नयन में न्यायपालिका की भूमिका

रोहित भारती
पीएच. डी. (राजनीति विज्ञान)

सारांश

भारत को गणतांत्रिक–लोकतंत्र के पथ पर चलते हुए छः दशक से अधिक बीत चुके हैं, इस यात्रा में हमने लोकतंत्र से जुड़ी विभिन्न चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए अपनी राजनीतिक व्यवस्था को न केवल मजबूत बनाया है, अपितु लोकतंत्र की जड़ों को गहरा करते हुए उसे पंचायतों तक विस्तृत कर दिया है। भारतीय लोकतंत्र सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक और संवैधानिक परिवर्तनों का एक सशक्त हस्ताक्षर बन चुका है। स्वतंत्रता के समय भारतीय समाज की रुढ़िवादी परम्पराओं में उलझी हुई मानसिकता और तत्कालीन अर्थ में ''आधुनिक समाज'' कहे जाने के अयोग्य हमारी राजनीतिक स्थिति को हमने लोकतंत्र के संस्कार में ढालकर उसे प्रगति के लिए जो एक बार आगे धकेला, पुनः फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखना पड़ा– यह हमारी लोकतांत्रिक दृढ़ता एवं जिजीविषा का प्रमाण है। इस प्रकार के परिवर्तनों को गति एवं स्थिरता देने के लिए 'राज्य' के तीनों अंगों को संविधान द्वारा कतिपय अधिकार एवं दायित्व दिये गये हैं, जिनका निष्पादन निर्धारित सीमाओं के भीतर सम्पन्न करके इन अंगों को 'राज्य' नामक संस्था को प्रासंगिक बनाये रखना है।

संरक्षक'' के रुप में

व्यवस्थापिका द्वारा कानूनों का निर्माण करके, कार्यपालिका द्वारा इन कानूनों को लागू करके और न्यायपालिका द्वारा कानूनों के आधार पर न्याय करके अपने दायित्वों को पूरा करना है लेकिन यदि संविधान के उपबन्धों पर ध्यान दिया जाए तथा साथ ही संविधान निर्मात्री सभा में हुए वाद–विवाद का विश्लेषण किया जाए, तो ज्ञात होगा कि न्यायपालिका को संविधान निर्माता केवल न्याय प्रदान करने वाली संस्था से आगे बढ़कर उसे भारतीय लोकतंत्र के ''संरक्षक'' के रुप में प्रतिष्ठित करते है इसका झलक भारतीय संविधान के **अनुच्छेद 13, 32, 137 और 143** आदि में देखने को मिलती है, इसी गुरुतर दायित्व के निष्पादन में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक विधायी और संवैधानिक अधिकार प्राप्त कर लिए हैं, इन अधिकारों का प्रयोग करके सर्वोच्च न्यायालय ने समय–समय पर संविधान की रक्षा की है और अपनी भूमिकाओं को निरन्तर परिवर्तनशील रखकर स्वयं को प्रासंगिक भी बनाए रखा है।

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ और बिहार राज्य[1] के वाद में तथा **सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य**[2] के बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद को संविधान में वर्णित मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति है लेकिन जब आगे चलकर सर्वोच्च न्यायालय ने देखा कि बहुमत प्राप्त तत्कालीन इन्दिरा सरकार द्वारा संविधान में वर्णित मूलाधिकारों में संशोधन करके नागरिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता में निरन्तर कटौती कर अपनी शक्ति एवं क्षमता को ''अनायास'' बढ़ाया जा रहा है, तो सर्वोच्च न्यायालय ने **गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य**[3] के बाद में कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की संविधान संशोधन क्षमता पर नियंत्रण लगाते हुए कहा कि नागरिकों के मूल अधिकारों में संशोधन नहीं किया जा सकता।

व्यवस्थापिका (संसद) और कार्यपालिका (तत्कालीन इन्दिरा गांधी सरकार) ने न्यायापालिका के इस निर्णय के प्रति प्रतिक्रियावादी स्वरुप धारण कर लिया और बहुमत का लाभ (अनुचित) उठाते हुए 24वें संविधान संशोधन द्वारा गोलकनाथ वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए निर्णय को बदल दिया। 25वें और 26वें संविधान संशोधन के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए उन निर्णयों को बदल दिया गया जिसमें उसने बैंकों के राष्ट्रीयकरण को अवैध घोषित कर दिया था तथा भूतपूर्व देशी राजाओं को मिल रहे प्रिवीपर्स को पुनः प्रारम्भ करने का आदेश दिया था। 29वें संविधान संशोधन द्वारा सर्वेच्च न्यायालय की इच्छा के विरुद्व केरल भूमि सुधार अधिनियम को 9वीं अनुसूची में जोड़ दिया गया। यही वह समय है जब सर्वोच्च न्यायालय ने कानून को शासन स्थापित करने के लिए और संविधान एवं लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को बचाने के लिए एक सक्रिय भूमिका निभाना शुरु किया। आगे चलकर 1973 ई0[4] में सर्वोच्च न्यायालय ने राजनीतिक परिस्थितियों में हुए परिवर्तन को देखते हुए केशवानन्द भारती वाद में यह निर्णय दिया कि संसद को संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने का अधिकार तो है लेकिन वह संविधान की मौलिक संरचना या आधारभूत ढांचों को संशोधित नहीं कर सकती। संसद की संविधान संशोधन क्षमता पर नियंत्रण का यह एक सामयिक कदम था, जिसके सहारे सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की सुरक्षा के लिए एक कवच तैयार कर दिया। 1975 से 1977 ई. तक जो आपातकाल लगा वह भारत के संवैधानिक इतिहास में एक ऐसे अध्याय के रुप में जुड़ता है जिसे लोकतांत्रिक मूल्यों के ऊपर गंभीर संकट के रुप में देखा जा सकता है। तत्कालीन सरकारी तंत्र ने आम नागरिकों की स्वतंत्रता एवं संवैधानिक अधिकारों, यहां तक कि जीवन की सुरक्षा के अधिकार की प्रासंगिकता एवं उपयोगिता को भी नष्ट कर दिया और संसद में प्राप्त बहुमत का स्वेच्छाचारी ढंग से प्रयोग किया। इसी बीच संविधान में सबसे व्यापक परिवर्तन

---

[1] एस0सी0 आर0, 1952 पृष्ठ 89।

[2] एस0सी0 आर0, 1965 पृष्ठ 933।

[3] ए0आई0 आर0, 1967 एस0सी0ए0 पृष्ठ 1643।

[4] ए0आई0आर0, 1973 एस0सी0ए0 पृष्ठ 1461।

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

42वें संविधान संशोधन के द्वारा कर दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय इन सभी स्थितियों को बहुत बारीक दृष्टि से देख और समझ रहा था। इसी कारण मेनका गांधी वाद[5] में उसने एक दूरगामी निर्णय दिया। इस वाद में माननीय न्यायधीशों ने कहा कि किसी अनुच्छेद में स्पष्ट रुप से लिखा हुआ न रहने पर भी कोई अधिकार मूल अधिकार हो सकता है यदि वह किसी अन्य मूल अधिकार से आवश्यक एवं अभिन्न रुप से जुड़ा हुआ है। इस निर्णय ने मौलिक अधिकारों के क्षितिज का अत्यन्त आवश्यक एवं अभूतपूर्व विस्तार कर दिया।

सर्वोच्च न्यायालय के विचारों में यह एक परिवर्तन बिन्दु का द्योतक है, जहां न्यायपालिका ने आकर यह अनुभव कर लिया कि ''कानून के शासन'' को केवल कार्यपालिका के सहारे नहीं छोड़ा जा सकता, वरन उसे भी कानून का शासन स्थापित करने के लिए **''विधि की उचित प्रक्रिया''** का आश्रय लेना पड़ेगा। न्यायपालिका की प्रवृत्ति में आया यह एक ऐसा परिवर्तन है, जिसकी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता को तत्कालीन आपातकाल के कारण संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक मूल्यों पर उत्पन्न हुए खतरे/संकट के परिप्रेक्ष्य में अच्छी प्रकार से देखा–समझा जा सकता है। 1978 ई. में मेनका गांधी वाद का निर्णय न्यायपालिका की एक नवीन भूमिका का द्योतक बनता है जिसे स्पष्ट रुप से ''विधि की उचित प्रक्रिया'' की ओर पदार्पण कहा जा सकता है, यह स्परुप जनहित याचिकाओं के आरम्भ से और भी व्यापक होता गया है। जनहित याचिकाओं ने सर्वोच्च न्यायालय को एक मानवीय स्वरुप में स्थापित कर दिया। वे लोग जो पीड़ित और उपेक्षित थे, जिनकी सुनवाई कहीं नहीं होती थी, क्योंकि वे इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुंमत में नहीं थे, उनके लिए न्यायालय ने अपने दरवाजे खोल दिए तथा उन्हें अन्याय एवं पीड़ा से बचाने के लिए अनेक कदम उठाए, जिससे इन लोगों को प्रथम बार **''लोकतंत्र में न्यायिक शक्ति''** का दर्शन हुआ। वस्तुतः संविधान में जिस लोकतांत्रिक एवं लोक कल्याणकारी राज्य की संकल्पना व्यक्त की गई है उसकी प्रतिबद्वता से न्यायपालिका ने स्वयं को पूरी तरह से सम्बद्व कर लिया और वह जनहित याचिकाओं के माध्यम से लोक कल्याण का नवीन अध्याय प्रारम्भ कर चुकी है। वे लोग जो अब तक व्यवस्था की परिधि पर थे, वे केन्द्र की ओर उन्मुख हो चले हैं और राज्य उनके लिए भी कुछ करने के लिए तैयार है। व्यवस्था में सहभागी बनने तथा व्यवस्था को उत्तरदायी बनाने के लिए न्यायपालिका द्वारा किए गए कार्यों से उसके प्रति जन आस्था निरन्तर बढ़ रही है।

2000 ई. के बाद भारत के सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका में एक नए प्रकार का परिवर्तन देखने को मिलता है। **सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक–लोकतांत्रिक–** संवैधानिक सरोकारों से जुड़ जाने के कारण 2000 ई. के बाद हम न्यायपलिका को विभिन्न मुद्दों पर सरकार से पहल करने का आग्रह करते या आदेश देते हुए पाते हैं। सरकार से **मद्रास हाइड्रो प्रोजेक्ट** बनाम जम्मू कश्मीर, **मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक** राज्य तथा उन्नीकृष्णन

[5] ए0आई0आर0, 1978 एस0सी0ए0 पृष्ठ 597

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

बनाम आन्ध प्रदेश (यद्यपि ये सभी मुकदमें 2000 ई. के पूर्व के हैं, लेकिन इसके निर्णयों का क्रियान्वयन 2000 ई. के बाद हुआ है) के वादों में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का सार यही है कि सरकार उन सामाजिक–आर्थिक दशाओं को दूर करे जिनके कारण बच्चे स्कूल पढ़ने नहीं जा पा रहे हैं। यदि बच्चे आर्थिक अभाव के कारण पेन, पेंसिल, कापी, किताब आदि नहीं खरीद पा रहे हैं तो सरकार का दायित्व है कि वह बच्चों को ये सब सामग्री निःशुल्क दे, शिक्षा न केवल सामाजिक–आर्थिक न्याय की प्राप्ति का एक साधन है, वरन यह जीवन के अधिकार का एक आवश्यक पूरक अंग भी है। इन उपरोक्त निर्णयों के प्रकाश में 86वां संविधान संशोधन विधेयक (2002ई.) प्रस्तुत कर संविधान के अनु. 21 में ''ए'' नामक नया अनुच्छेद जोड़कर यह व्यवस्था दी गयी कि, 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करना उनका मूलाधिकार होगा।'' सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनेक निर्णयों में इस बात की आवश्यकता बतायी कि जोड़–तोड़ द्वारा सरकार बनाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है, इससे सरकारे अस्थिर होती हैं और वे उत्तम ढंग से कार्य नहीं कर पातीं। यदि मंत्रिमण्डल की सदस्य सीमित व निश्चित हो तो इससे दल बदल तथा राजनीतिक सौदेबाजी रोकने में मदद मिलेगी, इसे ध्यान में रखकर ही संविधान में 91वें संशोधन किया गया जिसके अनुसार केन्द्र व राज्यों में प्रधानमंत्री/मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या निचले सदन में सदस्यों की कुल संख्या का 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। छोटे राज्यों में जहां विधायकों की संख्या कम है, मंत्रियों की अधिकतम संख्या 12 होगी।

एस.पी. गुप्ता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (1962ई.) और बाम्बे इन्वायरमेंटल ऐक्शन ग्रुप और अन्य बनाम पुणे केन्टोनमेन्ट बोर्ड आदि के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया कि सूचना का अधिकार संविधान के अनु. 19(1) क में वर्णित विचार–अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में समाहित है। यदि व्यक्ति को सही व कारगर सूचना नहीं मिलेगी तो वह अपने विचारों को एक सुनिश्चित एवं मनोवांछित आकार–प्रकार में अभिव्यक्त नहीं कर पाएगा। अन्ततः एक लम्बी बहस के बाद केन्द्र सरकार ने सूचना का अधिकार विधेयक, 2005 ई. संसद में प्रस्तावित एवं पारित कराया। पी.यू.सी.एल. बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया और अन्य के वाद (2007 ई.) में तथा कुछ अन्य मुकदमों में सर्वोच्च न्यायालय ने लगभग 60 से अधिक बार सरकार को आदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन उपलब्ध कराना उसका दायित्व है, क्योंकि यह जीवन के अधिकार से सम्बद्ध है, बिना भूख मिटाए जीवन के अधिकार का प्रयोग नहीं किया जा सकत। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी कहा है कि मानवाधिकारों के वैश्विक घोषणा–पत्र (1948 ई.) की धारा 25 के अनुसार जनता को भोजन उपलब्ध कराना सरकारों का परम दायित्व है, भारत ने इस दायित्व की पूर्ति का प्रयास करते हुए ही मिड डे मील योजना शुरु की है तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से गरीबों को सस्ती दर पर अनाज बांटने की व्यवस्था की है। स्वास्थ्य,

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

आवास, रोजगार, प्रदूषण आदि पर बनने वाले विभिन्न कानूनों के पीछे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के अनुपालन का ही दबाव है।

वस्तुतः न्यायाधीशों का कार्य **''ज्यूडिशियल स्टेट्समैन''** की भाँति होता है, उन्हें जनता की आकांक्षाओं, समाज की आवश्यकताओं और समय की गति एवं दिशा को ध्यान में रखना होता है। ऐसा करते समय वे संविधान में मौन रुप से अभिव्यक्त स्वतंत्रता एवं अधिकारों को व्यापक बनाते हैं। **''उपेन्द्र बक्शी''**[6] ने ऐसे ही कुछ क्षेत्रों का उल्लेख किया है जहां कोई न्यायाधीश आदेश–निर्देश जारी कर सकता है।'' वास्तव में, यदि कार्यपालिका जनकल्याण के लक्ष्यों को सामान्य प्रशासकीय प्रक्रिया द्वारा प्राप्त करने में अक्षम या असमर्थ रहती है तो न्यायपालिका जनकल्याण के मुद्दों को अपना लक्ष्य मानकर उसकी प्राप्ति का सार्थक एवं सक्रिय प्रयास कर सकती है। संविधान के प्रावधानों की प्रगतिशील व्याख्या करने और संविधान के संरक्षक का दायित्व निभाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने इस नयी भूमिका को स्वीकार किया है।

लोकतंत्र में जनता का विश्वास बना रहे, इसके लिए सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव सुधार से सम्बंधित अनेक निर्णय दिए हैं, जिनका सकारात्मक परिणाम भी सामने आया है लेकिन अभी भी बहुत कुछ करना बाकी है। जनता की राजनीतिक चेतना निरन्तर बढ़ रही है और उसने अपने संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करने हेतु राजनीति का प्रयोग/उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जनता की प्रकृति एवं प्रवृत्ति में अनेक अलोकतांत्रिक तत्व भी बढ़ रहे हैं जैसे **जातिवाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद** आदि। यदि इन अलोकतांत्रिक तत्वों की सफाई कर जनता की राजनीतिक चेतना को राष्ट्रीय हित के सरोकारों से सम्पृक्त करने में न्यायपालिका कोई योगदान कर सके तो यह हमारे लोकतंत्र के लिए नयी संजीवनी सिद्व होगी।

वर्तमान परिवेश में सुशासन **(गुड गवर्नेंस)** केवल कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का ही दायित्व नहीं है, इस दिशा में न्यायपालिका से भी बड़ी अपेक्षाएं है। कार्यपालिका में काम कर रहे अस्थायी (राजनीतिज्ञ) तथा स्थायी (नौकरशाह) व्यक्तियों का उत्तरदायित्व गंभीरता के साथ सुनिश्चित किया जाए, नीति निर्माण तथा निर्णयों के क्रियान्वयन में पारदर्शिता लायी जाए, भ्रष्टाचार का समूलोन्मूलन कर योजनाओं का सफल क्रियान्वयन किया जाए, प्रभावशाली, कार्यकुशल एवं सच्चे अर्थों में लोककल्याणकारी लोकतंत्र का निर्माण हो, तर्कशील एवं जागरुक नागरिक चरित्र का निर्माण हो जो समाज की भावी आवश्यकताओं के प्रति चैतन्य हो– यह सब प्रयास भी ''राज्य'' के एक अंग के रुप में न्यायपालिका को करना चाहिए। इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए न्यायपालिका को अनेक संस्थाओं से सहायता मिल सकती है जैसे– मुख्य सतर्कता आयुक्त, मुख्य सूचना आयुक्त, अम्बुडसमैन आदि। जनहित याचिकाओं के त्वरित समाधान हेतु भी न्यायपालिका को पृथक से संस्था

---

[6] वख्शी उपेन्द्र (1984),'' आन द शेक ऑफ नाट वींइग ऐन ऐक्टिविस्ट थॉट्स ऑन ज्यूडीशियल ऐक्टिविज्य, इण्डियन बार काउंसिल भाग–2(3)

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

सृजित करने का समय आ गया है क्योंकि इनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। जन चेतना के प्रवाह को सार्थक दिशा देने का कार्य न्यायपालिका को अपने कंधों पर लेना ही होगा।

न्याय को सर्व–सुलभ बनाने की जरुरत

किसी भी राष्ट्र में लोकतांत्रिक शासन की मजबूती काफी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश की न्याय व्यवस्था कितनी स्वतंत्र, निष्पक्ष और प्रभावी है और किसी भी न्याय व्यवस्था के स्वतंत्र व निष्पक्ष होने के लिए आवश्यक है कि वह सरल, सुलभ एवं शीघ्रगामी हो। न्याय के सरल, सुलभ व शीघ्रगामी न होने पर न्याय तंत्र निष्प्रभावी हो जाता है एवं अप्रत्यक्ष रुप से ही सही, न्याय व्यवस्था अन्यायपूर्ण व कठिन हो जाती है। परिणामतः लोगों का उसमें विश्वास डगमगाने लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि देर से मिला न्याय, न्याय नहीं रह जाता। दुर्भाग्यवश भारत की न्याय व्यवस्था इन सब दोषों से ग्रस्त है और जब–तब के प्रयासों के बावजूद आज भी इनसे निजात नहीं पाया जा सका है। इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि देश के जिस विपन्न तबके को हमारी न्याय व्यवस्था के सम्बल की विशेष आवश्यकता है, उस तबके के लिए यह अपेक्षाकृत अधिक मुसीबतें खड़ी करने वाली हो जाती है।

ऐसा नहीं हैं, कि उच्च वर्गीय लोगों को न्यायिक दोषों के कारण समस्या नहीं होती, लेकिन वे साधन सम्पन्न होते हैं इसलिए समस्याओं को जैसे–तैसे झेल लेते हैं। उनके जीवन पर इसका कोई बहुत विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन साधनहीन निम्न व मध्यम वर्गीय आम लोगों के लिए लम्बी खिंचने वाली न्यायिक प्रक्रियाओं की स्थिति में सबसे बड़ी समस्या यह हो जाती है कि वे अपनी रोजी–रोटी का जुगाड़ करें या न्यायालय, वकील के चक्कर काटें। प्रायः ऐसी स्थिति में उनका जीवन अदालत, वकील और घर के बीच उलझकर रह जाता है। अतः पहले से ही आर्थिक रुप से कमजोर ये लोग लम्बी न्यायिक सुनवाइयों तथा अदालत–वकील के चक्कर में बर्बाद हो जाते हैं। इस कारण निम्न व मध्यम वर्गीय लोगों के मन में हमारी न्याय व्यवस्था के प्रति बेहद निराशा का भाव घर कर गया है, जिस कारण वे न्यायिक प्रक्रिया में पड़ने की बजाये चुपचाप अन्याय सह लेने को ही अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।

महान विद्वान **''डी.डी. रफेल''** ने न्याय को बेहद सटीक ढंग से परिभाषित करते हुए लिखा है, **''न्याय उस व्यवस्था का नाम है जिससे व्यक्तिगत अधिकार की रक्षा होने के साथ समाज की मर्यादा भी बनी रहती है।''** इस परिभाषा से न्याय के सम्बंध में दो बातें स्पष्ट होती हैं – पहली यह कि न्याय का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को उसका हक देना हैं और दूसरी, समाज को निरंकुश होने से रोकना है। उक्त दोषें के कारण भारतीय न्याय व्यवस्था, न्याय के इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नजर आती है।

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

दोषों का कारण और प्रभाव

हमारी न्याय व्यवस्था में उपर्युक्त दोष कहीं से अचानक पैदा नहीं हुए, बल्कि यह तो हमारी न्याय व्यवस्था के निर्माण के साथ ही उसमें मौजूद थे, जो कि समय के साथ आज और भी विकसित रुप ले चुके हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका के निर्माण के समय सुप्रीम कोर्ट व हाई कोर्ट के रुप में स्वतंत्र व निष्पक्ष न्याय के दो स्तम्भ तो बनाए, पर न्याय व्यवस्था का वह औपनिवेशिक स्वरुप जो अंग्रेजों के समय में था, उसे पूरी तरह से खत्म करने की बजाए थोड़ा–बहुत हेरफेर के साथ वैसा ही रहने दिया। अर्थात न्याय व्यवस्था अंग्रेजों के कमजोर व गरीब तबके का शोषण व दमन करने के उद्देश्य से जान–बूझकर बनाई थी, लेकिन आजाद भारत के हमारे संविधान निर्माता भी इन दोषों से हमारी न्याय व्यवस्था को पूर्णतः मुक्त क्यों नहीं कर सके, यह अत्यन्त सोचनीय प्रश्न है? इस संविधान प्रद्त्त दोषपूर्ण न्याय व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि आज देश के गरीब अथवा सामान्य आय वाले आम लोगों के लिए न्याय पाना असंभव सा हो गया है।

अगर किसी व्यक्ति के न्याय पाने की राह में आने वाली चुनौतियों पर एक नजर डालें तो हम देखते हैं कि कोई भी व्यक्ति जब न्याय की लड़ाई लड़ता है तो उसे वकील की फीस समेत अदालती प्रक्रियाओं में यहां–वहां लगने वाले शुल्क आदि सहित तमाम खर्चों के लिए आर्थिक तौर पर तैयार होना होता है, जो कि गरीब व्यक्तियों के लिए कहीं से आसान नहीं होता। इसके अतिरिक्त न्याय व्यवस्था का जटिल होना भी व्यक्ति के लिए काफी मुश्किलें खड़ी करता है। हमारी अदालतों की जटिलता का एक सबसे बड़ा कारण है उनकी भाषा। भारतीय न्यायालयों की कागजी कार्यवाही अब भी अंग्रेजी में ही होती है। याचिका तक अंग्रेजी में ही देनी होती है। ऐसे में अगर कोई व्यक्ति अंग्रेजी नहीं समझता है तो उसके लिए न्याय पाने की राह का दुरुह हो जाना स्वाभाविक ही है। इसीलिए भारतीय न्यायालयों में हिन्दी समेत अन्य भारतीय भाषाओं में कार्यवाही के लिए जब–तब मांग होती रही है, लेकिन फिलहाल इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। न्यायिक प्रक्रियाओं का बेहद जटिल होना भी देश के गरीब, अल्पशिक्षित लोग ही नहीं, शिक्षित लोग भी चकरा जाते है और अगर प्रक्रिया में तनिक भी त्रुटि हुई तो याचिका खारिज होने में जरा भी वक्त नहीं लगता है।

इस बात को थोड़ा और ठीक से समझने के लिए भारत के पूर्व प्रधान न्यायाधीश अल्तमस कबीर द्वारा सन् 2012 में सुनाई गई उनके जीवन की एक घटना उल्लेखनीय होगी – **"एक सड़क दुर्घटना में अपना पैर गंवाने वाली बिहार की एक लड़की सात साल तक महज इसलिए मुआवजा नहीं पा सकी, क्योंकि उसने प्रावधानों के मुताबिक मेमो ऑफ प्रजेंस के रुप में अपना मामला दायर नहीं किया था।"** उस लड़की की किस्मत अच्छी थी कि एक कार्यक्रम के दौरान उसका मामला न्यायमूर्ति कबीर के संज्ञान में आ गया और उन्होंने उसे तत्काल पांच लाख रुपये मुआवजे का भुगतान सुनिश्चित किया। इस घटना से स्पष्ट होता है कि बेहद

छोटी–छोटी गलतियों के कारण भी व्यक्ति को न्याय नहीं मिल पाता है। उक्त लड़की का मामला भाग्यवश तत्कालीन प्रधान न्यायाधीश के सामने आ गया तो उसका समाधान हो गया, पर अगर ऐसा न होता तो कहना कठिन है कि उस लड़की को कब उसका हक मिलता, मिलता भी या नहीं। इन सब समस्याओं के बाद भी अगर यह निश्चित रहे कि एक तय समय में अदालत का फैसला आ जाएगा, तो न्यायर्थी को एक उम्मीद भी रहे। पर यहां तो न्यायिक प्रक्रिया धीमी चाल से बढ़ती है। अब जितना अधिक समय फैसला आने में लगता हैं, न्यायार्थी की मुश्किलें उतनी ही बढ़ती जाती है।

कार्यपालिका की बेरुखी ने न्यायपालिका को रुलाया

न्याय प्रक्रिया में माननीय **प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी** के सामने भारत के मुख्य न्यायाधीश टी.एस ठाकुर का रो पड़ना महज निजी भावुकता में टाल दिए जाने वाली घटना नहीं है। यह अपने आप में इस बात का संकेत है कि हमारी कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच सब कुछ ठीक नहीं चल रहा है। वैसे तो फ्रांसीसी दार्शनिक मांटेस्क्यू के सत्ता के विभाजन के सिद्वान्त को भारतीय संविधान में दर्ज भी किया गया है और व्यवहार में भी हमारा लोकतंत्र उसे अपनाता रहा है, लेकिन जबसे भारतीय न्यायपालिका ने राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग **(एनजेएसी)** के नियुक्ति सम्बंधी कानून को खारिज करके अपनी **कॉलेजियम प्रणाली** को कायम रखने का निर्णय किया है तबसे कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच एक तनावपूर्ण रिश्ता कायम हो गया है, कॉलेजियम प्रणाली भले ही जजों के चयन के लिए स्वतंत्र हो, लेकिन उनकी नियुक्ति का औपचारिक निर्णय तो सरकार को ही करना होता है। यही वजह है कि सरकार कॉलेजियम की संस्तुतियों को न भी नहीं कर रही है और औपचारिक रुप से हां करके भी नहीं दे रही है।

दो महीने पहले हाईकोर्ट के लिए 170 जजों के नाम प्रस्तावित किए गए थे, लेकिन वे अभी तक लटके हुए हैं। भारत के मुख्य न्यायाधीश ने जजों की कमी की पीड़ा को कई बार व्यक्त किया है, लेकिन उनकी ताजा अभिव्यक्ति से यही लगता है कि अब पानी सिर से ऊपर निकल गया है।

सवाल यह नहीं हैं कि नागरिकों और जजों की संख्या का आदर्श अनुपात कब और कैसे हासिल किया जा सकेगा, क्योंकि वह अनुपात अमेरिका वगैरह ही नहीं अपने विधि आयोग के सुझावों के लिहाज से भी बहुत पीछे है। सवाल इस बात का है कि भारत के मुख्य न्यायाधीश का यह बयान लोकतंत्र की दो महत्वपूर्ण संस्थाओं के बीच विश्वास की जिस कमी को दर्शाता है वह कैसे पूरी की जाएगी। इसका फर्क न सिर्फ देश के भीतर इस सरकार की विश्वसनीयता पर पड़ेगा बल्कि उन निवेशकों पर भी पड़ेगा जो इस देश में पूंजी लगाने को उत्सुक हैं लेकिन यहां की न्यायपालिका की दयनीय स्थिति को देखकर छिटक सकते हैं। इस दिशा में **न्यायमूर्ति ठाकुर**

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

ने भी संकेत दिए हैं। हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि एनजेएसी के फैसले में न्यायपालिका और विशेष तौर पर न्यायमूर्ति खेहर ने कार्यपालिका और देश की स्थिति पर बहुत कठोर टिप्पणियां की थी। शायद कार्यपालिका के दिल में वह अभी भी तीर की तरह की चुभी हुई हैं। उम्मीद की जाती है कि प्रधानमंत्री मोदी न्यायमूर्ति ठाकुर से अकेले में बातचीत करके इस गिले–शिकवे को जल्दी ही दूर करेंगे।

देरी का आलम ये है कि कितने मामलों में तो मामले से सम्बंधित व्यक्तियों की मृत्यु तक हो जाती है, पर अदालत का फैसला नहीं आ पाता। हमारी न्याय व्यवस्था की इस सुस्ती को खुद न्यायपालिका समेत देश की सरकारों आदि के द्वारा भी स्वीकार तो किया जाता है, पर इस दिशा में समाधानमूलक कोई ठोस कदम नहीं उठाया जाता। देश में न्यायिक सुस्ती की इस स्थिति को रेखाकिंत करते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश **''ए.पी. शाह''** ने एक बार कहा था, **''अगर देश में न्याय मिलने की यही गति रही तो लम्बित पड़े मामलों को निपटाने में 450 साल लग जाएंगे।''**

न्याय में बिलम्ब के कारण

एक ऑकड़े के अनुसार अभी देश के उच्च और जिला अदालतों में **ढाई से तीन करोड़** मामले लम्बित है और अपने अंजाम की प्रतीक्षा कर रहे हैं और अगर न्याय मिलने की यही गति रही तो आने वाले समय में इनमें और बढोत्तरी की गुंजाइश है। इतने अधिक मामले लम्बित होने के लिए सबसे बड़ा कारण है, देश की सभी अदालतों में न्यायाधीशों की भारी कमी। आज जहां देश के उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के 250 के ऊपर पद खाली हैं, वहीं निचली अदालतों में यह ऑकड़ा 3700 के आसपास है। जिला अदालतों में भी न्यायाधीशों के लगभग 18000 पद रिक्त हैं। समझा जा सकता है कि जिस न्याय व्यवस्था में आवश्यकतानुसार जजों की मौजूदगी ही न हो, वहां जनता को तय समय में समुचित न्याय भला केसे मिल सकता है। जजों की कमी के अतिरिक्त न्यायालयों के कार्यों का कम्प्यूटरीकरण भी बेहद धीमी गति से हो रहा है। साथ ही पुलिस की धीमी जांच और चार्जशीट दायर करने में की जाने वाली देरी भी इस न्यायिक सुस्ती के लिए काफी हद तक जिम्मेदार है। चार्जशीट दायर होने के बाद भी कितनी बार पुलिस की कमजोर और तथ्यहीन जांच के कारण न्यायालय द्वारा उसे पुनः चार्जशीट दायर करने के लिए कह दिया जाता है, जिस कारण न्यायिक प्रक्रिया में खासा समय बर्बाद होता है।

समाधान

अब सवाल यह उठता है कि न्याय व्यवस्था को उपरोक्त दोषों से मुक्त कर न्याय को सर्व–सुलभ कैसे बनाया जाए? इसके लिए न्याय व्यवस्था में व्यापक सुधार की आवश्यकता है। सबसे पहले तो समाज के निम्न व

Legal Research Development
An International Refereed e-Journal
(Peer Reviewed, Refereed & Open Access, Index, Journal of Law)
Web: www.lrdjournal.com, Email: journal1257@gmail.com
Impact Factor : 2.010
UGC APPROVED JOURNAL S.No. 62998
ISSN: 2456-3870
Vol. 2, Issue-I
Sep. 2017
e-ISJN: A4372-3116

कमजोर लोगों को न्याय सुलभ कराने के लिए इसे प्रक्रियात्मक रुप से सरल और लचीला बनाना होगा। यथा, गरीब व कमजोर तबके के लोगों को न्यायिक प्रक्रियाओं के अनुपालन समेत इनमें होने वाले आर्थिक व्यय में कुछ छूट दी जा सकती हैं। न्यायालय की कार्यवाही के लिए भारतीय भाषाओं को लाकर प्रक्रियाओं की जटिलता को काफी हद तक सरल बनाया जा सकता है। जजों की रिक्तियों को भरकर तथा अदालतों का पूरी से कम्प्यूटरीकरण करके न्यायिक सुस्ती से निपटा जा सकता है। इस दिशा में फास्ट ट्रैक अदालतें, लोक अदालतें, विशेष सांध्य अदालतें भी काफी कारगर सिद्ध हो सकती हैं। यह सब करके ही हम अपनी न्याय व्यवस्था को अमीर–गरीब, शिक्षित–अशिक्षित सबके लिए समान रुप से सुलभ बना सकते हैं।